गुरू पूर्णिमा, आषाढ़ शुक्ल पन्द्रह वि0 स0 2077, 05 जुलाई 2020

वाल्यूम 4 अंक–2

# अखण्ड विश्वम्भरानन्द ज्ञान सरिता

## अर्द्ध वार्षिक

## श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम

वेदान्त नगर, सीपरी बाजार, झाँसी (उ0प्र0)

# अखण्ड विश्वम्भरानन्द ज्ञान सरिता

**वाल्यूम–4 गुरू पूर्णिमा, आषाढ़ शुक्ल पन्द्रह वि0स0 2077, 05 जुलाई 2020 अंक 2**

स्वामी श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम के लिये प्रकाशक, मुद्रक, सम्पादक स्वामी श्री शुकदेवानन्द द्वारा श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम, लहर देवी रोड, वेदान्त नगर, सीपरी बाजार झांसी से प्रकाशित।

**– सम्पादक, स्वामी शुकदेवानन्द**

**संस्थापक एवं संरक्षक**

**स्वामी हीरानन्द जी महाराज एवं**

**श्री आर. के. मिश्रा**

श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम धर्मार्थ समिति

लहरगिर्द नालगंज

सीपरी बाजार, झांसी (उ0प्र0)

**प्रधान सम्पादक :**

**स्वामी शुकदेवानन्द जी**

प्रबन्धक

श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम धर्मार्थ समिति

**सम्पादक मण्डल :**

श्री प्रमोद कुमार गुप्ता

श्रीमती कुमकुम बिसारिया

डॉ. रंजना शर्मा

**प्रकाशन कार्यालय :**

श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम

धर्मार्थ समिति लहर गिर्द, नालगंज

सीपरी बाजार, झांसी (उ0प्र0)

पिन कोड – 284003

फोन : (0510) 2360251

अर्द्धवार्षिक

मूल्य : निःशुल्क वितरण के लिये

**भारत सरकार**

**प.सं. UPHIN/2016/73634**

# अनुक्रमणिका


| क्रम. | विवरण | लेखक | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| 1. | सम्पादकीय | स्वामी शुकदेवानन्द | 3 |
| 2. | आनन्द | आर0 के0 मिश्रा | 5 |
| 3. | मिल कीजै सतगुरू आरती | ब्र0 राघवेन्द्र चैतन्य | 7 |
| 4. | महर्षि वशिष्ठ | पं0 चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी | 9 |
| 5. | ऊँ | ब्र0 राघवेन्द्र चैतन्य | 11 |
| 6. | पुनर्जन्म | प्रमोद कुमार गुप्ता | 12 |
| 7. | जीवात्मा की यात्रा का अन्तिम पड़ाव | श्रीमती कुमकुम बिसारिया | 14 |
| 8. | तृष्णा | श्रीमती रंजना शर्मा | 16 |
| 9. | अनमोल विचार | पंकज मिश्रा | 17 |
| 10. | जातिस्मर | पुरूषोत्तम नारायण गुप्ता | 18 |
| 11. | मन पॉचहु के वस परा | श्रीमती कुमकुम बिसारिया | 20 |
| 12. | गुरू बिनु भवनिधि तरइ न कोई | पं0 वेद प्रकाश त्रिवेदी | 21 |
| 13. | सत संगति दुर्लभ संसारा | ठा0 लाखन सिंह तोमर | 23 |


## पाठको से निवेदन

Website:- www.akhandavedanta.com

Email:- neerajnikhra@gmail.com

diszvaibhav@gmail.com

**गुरू भक्त अपनी ई–मेल पर "अखण्ड विश्वम्भरानन्द ज्ञान सरिता" पत्रिका निशुल्क चाहते हैं, तो उपर्युक्त ई–मेल आईडी पर सम्पर्क करके प्राप्त कर सकते हैं।**

**सम्पादकीय........................**

*अभेद दर्शनम ज्ञानम् ध्यानम निर्विष्यम मनः*
*स्नानं मनुमल त्यागः शौचम् इन्द्रीय निग्रः*

—मैत्रेय ऋषि

विदुर जी ने एक दिन अपने गुरू मैत्रेय जी से पूछा कि हे गुरूदेव संक्षेप में ज्ञान का सार बताने की कृपा करें। आज की मौजूदा परिस्थितियों में जब सारा विश्व एक महामारी से पीड़ित है और उससे एक प्रकार का विश्वव्यापी युद्ध चल रहा है। यह युद्ध आपस में मनुष्य—मनुष्य का संघर्ष नहीं है बल्कि एक प्राकृतिक आपदा से हम जूझ रहे हैं। ऐसे में हमारे अन्दर आत्मबल और समाज के प्रति समाज यानी पूरी मानव जाति के लिये कर्तव्य परायण होना आवश्यक है। आत्म बल बड़ाने के लिये शास्त्रानुसार जीवन ही हमारा पथ प्रदर्शक होता है। मनुष्य में दो तरह की प्रवृति देखने में आती है। एक वह जो अपना जीवन शास्त्रों और गुरूओं के अनुशासन में चलाते हैं। ऐसे लोगों के जीवन में भटकन नहीं होती और उनका जीवन अनुशासित एवं अपने मार्गदर्शक यानी गुरू, वेद, शास्त्र, आदि विश्व का प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय चाहें वह ईसाई हो, मुस्लिम हो अथवा सनातन धर्मी हिन्दु हो अथवा सिख हो सभी यह मानते हैं कि एक अज्ञात शक्ति सर्वत्र है और वह अज्ञात शक्ति ईश्वर के नाम से जानी जाती है, चाहे उसका नाम खुदा कहो, गॉड कहो, या किसी अन्य नाम से पुकारो। वह शक्ति सत् है यानी वह है। वह आने जाने वाली नहीं है अर्थात् वह सर्वत्र और सदैव है। उसी में सब जल में लहरों की तरह अथवा बुलबुले की तरह प्रतीत हो रहे हैं। जैसे सूत की एक ही रस्सी में गांठ लगाओ तो गांठ अलग—अलग दिखेगी लेकिन वह रस्सी से अलग नहीं है। सोने में कितने ही आभूषण बनाये जायें लेकिन वह सोने से भिन्न नहीं है। वह सत् जड़ नहीं है। वह जानने वाला है, उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता है। वह समस्त प्राणीयों के अन्दर आत्म रूप में विराजमान है। वह हमारे अन्दर के सभी भाव—कुभाव को जानने वाला है तथा हमारे सब शुभ—अशुभ कर्मों का देखने वाला है।

मनुष्य को ईश्वर ने बुद्धि पर्याप्त देकर कर्म करने के लिये स्वतंत्र बनाया है लेकिन कर्मों के अनुसार फल भी वही देता है इसीलिये वह ईश्वर कहलाता है। वह हमारे सब कर्मों को देखता रहता है, उसमें कभी शरीर की तरह जागृत सुषुप्ति का भेद नहीं है। जैसे सूर्य में कभी रात्रि नहीं

होती उसी प्रकार वह सर्वत्र सबका जानने वाला है इसी लिये वह सर्वज्ञ है तथा सब में आत्मरूप से विराजने के कारण सर्वान्तर्यामी है। कर्मों के अनुसार जन्मदाता होने से सब की योनि वही है अर्थात् सबको उत्पन्न करने वाला वही है, इसी का नाम अभेद दर्शन है अर्थात् हम सबके अन्दर परमात्मा का दर्शन करें। सबको परमात्मरूप समझें, सारी सृष्टि ही परमात्मा का बकू है अर्थात् परमात्मा का शरीर है।

शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने ही विषय को पहचानती है जैसे कान से शब्द का ज्ञान होगा, आंख से रूप का, त्वचा से स्पर्श का, जिव्हा से स्वाद का एवं नाक से गंध का। यही पांच विषय संसार में हैं, इनका उपयोग विवेक पूर्वक करने का नाम ही मन को निर्विषय बनाना है। इन्द्रियों पर नियंत्रण ही इन्द्रिय निग्रह है। इन्द्रियों को वेद में घोड़े कहा है, शरीर रथ है, मन लगाम है, बुद्धि ड्राइवर है। यह बुद्धि अगर शास्त्र और गुरू के अनुसार चल रही है तो वह परमात्मा से मिलाने वाली होगी व आत्मबल बड़ाने वाली होगी और यदि मन मुखी रहेगी तो संसार रूपी गड्ढे में गिराने वाली होगी, जो गुरूमुख होते हैं उनका जीवन शास्त्रानुसार आत्म बल बड़ाने वाला ही होता है। मन मुखी के जीवन में स्थिरता न होकर भटकन ही होती है इसलिए आज के जीवन में आत्मबल ही आवश्यक है।

**♦स्वामी श्री शुकदेवानन्द जी महाराज♦**

**"आशीर्वचन"**

आश्रम में इस बार गुरू पूर्णिमा कार्यक्रम विश्व महामारी के कारण बदली हुई परिस्थितियों में अत्यंत सादगी के साथ मनाने का निश्चय किया गया है।

सार्वजनिक भण्डारा भी स्थगित करना पड़ा एवं बाहर से पधारने वाले भक्तों को भी आमंत्रित नहीं किया जा रहा है। इन बदली हुई परिस्थिति का प्रभाव हमारी पत्रिका पर भी पड़ा है लेकिन **चि0 वैभव वर्मा** के सहयोग से कम्प्यूटर पर ही पत्रिका वेवसाइट पर प्रकाशित की जा रही है एवं पत्रिका की प्रकाशित प्रतियाँ **चि0 अरविन्द देवलिया** के सहयोग से आश्रम को प्रदान की गई हैं। इन दोनों को सम्पादक मण्डल की ओर से हार्दिक आशीर्वाद है।

**सम्पादक**

# "आनन्द"

सुख और आनन्द सामान्य जन मानस की भाषा में पर्याय शब्द हैं। सुख की कामना सभी व्यक्ति की सबसे प्रमुख अभिलाषा होती है। सभी चाहते हैं कि उनको घर, परिवार, शरीर, दाम्पत्य जीवन, पुत्र, पुत्री, नौकरी, ग्रहस्ती, दुकानदारी, व्यवसाय, इत्यादि का सुख हो। अर्थात जिस सबसे हमारी कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, मन, प्राण, इत्यादि को सुख प्राप्त होता है, ऐसे सभी सुखों की मनोकामना हर व्यक्ति करता है। समाज में वही सबसे सुखी व्यक्ति माना जाता है, जिसके पास इन्द्रियों के तुष्टीकरण के सबसे अधिक साधन उपलब्ध होते हैं। इन्द्रियों का धर्म है कि वह विषयों में गोचरित हो। कहने का तात्पर्य है कि सुख का भोग इन्द्रियां करती हैं।

आनन्द का केवल अनुभव किया जा सकता है। अनन्द भोग अथवा विलास का विषय नहीं है और यह इन्द्रियों के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। जहॉ सुख पर अधिकार केवल उन सफल व्यक्तियों को है, जिनके पास सभी तरह की आधुनिक सुख सुविधायें प्राप्त करने की क्षमता है वही आनन्द सर्व सामान्य को उपलब्ध है।

आज जब विज्ञान ने इतनी तरक्की कर ली है कि वह सभी प्रकार की सुख सुविधायें हर ऐसे व्यक्ति को उपलब्ध करा सकता है, जो इसकी कीमत देने में सक्षम हो। परन्तु क्या सभी ऐसे व्यक्ति आन्नदमय हैं? क्या वह चिंतारहित निश्चन्द जीवन व्यतीत कर सकते हैं? इसका उत्तर है शायद नहीं। अगर ऐसा होता तो शायद जितने भी अमीर औद्योगिक राष्ट्र हैं, उनके नागरिक आत्महत्यायें नहीं करते। वह शान्ति की खोज में भारत जैसे गरीब देशों की ओर अपेक्षा से नहीं देखते। हरिद्वारा और ऋषिकेष के आश्रमों में रहने के लिये नहीं आते।

मानव जीवन कर्म प्रधान है। अपने कर्मों से हम विरक्त नहीं हो सकते हैं। सनातन धर्म की परिभाषा ही कर्म पर आधारित है। विधि एवं समाज द्वारा आधारित अपने कर्मों का निष्पादन ही हमारा धर्म है। व्यक्ति ऐसे ही समय में कई प्रकार के कर्तव्यों से बाधित रहता है। वह एक पिता/माता है तो एक पुत्र/पुत्री भी है। एक पति/पत्नी है तो साथ ही साथ एक भाई/बहन भी है। एक व्यवसायी/कर्मचारी भी है तो एक मालिक/नौकर भी अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति में उसके कुछ अलग–अलग कर्तव्य हैं और हर परिस्थिति के कर्तव्यों के निष्पादन के विधि सम्मत एवं समाज से स्वीकृत नियम हैं। वह जब तक इन नियमों का पालन करते हुए अपने कर्तब्यों का हर परिस्थिति में निष्पादन करता है। वह व्यक्ति अपने धर्म का यथोचित पालन करता है।

ऐसे कर्तव्य परायण व्यक्ति निसंदेह षठ् सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। ऐसे व्यक्ति में विवेक स्वंय स्फुटित होता है। और वह अपने कर्तवयों के पालन को निष्काम भाव से, बिना किसी फल की लालसा मन में संजोये हुए करता जाता है। ऐसा व्यक्ति सौ–सौ रागों से विरक्त, षठ् सम्पत्ति में स्थिरप्रज्ञ हो आत्मानुभव को प्राप्त होता है। इस आत्मानुभव की स्थिति को ही आनन्द कहते हैं।

शिवोऽहम

**– आर0 के0 मिश्रा**
**फरीदाबाद।**

## **"ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग"**

परब्रह्म के अस्तित्व को जानने के लिये तीन मार्ग हैं। प्रथम "ज्ञान" मार्ग है, जिसमें निर्गण स्वरूप के रूप में उस समष्टि रूप सत्ता को अपने व्यष्टि रूप में जानना होता है। परब्रह्म को हृदय में विराजमान जानने वाले उस निर्गुण, निराकार रूप में जानकर जगत में जो भी है, सबको ब्रह्म का ही स्फुरण मानते हैं। इसे ज्ञान मार्ग की संज्ञा दी जाती है।

द्वितीय मार्ग "भक्ति" का है। जिसमें अपने आराध्य देव को साकार मूर्ति स्वरूप में परब्रह्म परमात्मा मानकर, उसके प्रति श्रद्धा से अपने आपको समर्पित कर देना होता है। ऐसा मानने वाले अपनी भावना के अनुरूप उस सगुण ब्रह्म की छवि को मूर्ति रूप में नेत्रों से देखकर उसे जानते हैं। इसमें द्वैत बोध रहता है, एक भक्त ज्ञाता एवं दूसरा ज्ञेय ईश्वर होता है। लेकिन जब हम स्वंय को अपने आराध्य में पूर्णरूपेण समर्पित कर देते हैं तब हम अपने अहं को अपने आराध्य देव से एक कर देते हैं। ऐसी भक्ति की पराकाष्ठा वाली अवस्था में हमारा तादात्म्य ही अद्वैत स्थिति है। दृश्य के अतिरिक्त भक्ति का ही एक और रूप है, इसमें अपने आराध्य देव को जिव्हा से उसका नाम जपकर हम अपने को स्वंय उसमें मिला देते हैं। यह भी कह सकते हैं कि हम अपने रोम–रोम में आराध्य देव को आप्लावित कर लेते हैं। इसकी परिणति सायुज्ज अवस्था में होती है।

तृतीय मार्ग "योग" का है जसके द्वारा प्रत्यगात्मा (प्रत्यक् + आत्मा) में सविकल्प से निर्वकल्प, सम्प्रज्ञात से असम्प्रज्ञात, सवितर्क से निर्वितर्क और तुरीय स्थिति प्राप्त होती है। जिसके फलस्वरूप संसार प्रपच से मुक्ति मिल जाती है और हमारी संसारोन्मुख वृत्तियॉ, आत्मोन्मुख एवं ब्रह्मोन्मुख होकर कल्याणकारी श्रेयस्कर गन्तव्य पर पहुॅच जाती हैं।

तात्पर्य रास्ता कोई भी हो सकता है निर्गुण या सगुण किन्तु सभी का गन्तव्य या प्राप्तव्य एक ही होता है। ब्रह्म आराध्य नहीं बल्कि हमारा स्वरूप ही है। आत्मा एवं ब्रह्म में भेद प्रतीत कराने वाली वृत्ति नष्ट हो जाती है, तज्जनित हममें ब्रह्मात्मैक्य (बह्मा + आत्मा + ऐक्य) बोध का सृजन हो जाता है। हमारे अन्दर जो ब्रह्म स्वरूप आत्मा है और समष्टि में व्याप्त ब्रह्म है, दोंनो एक ही हैं। ऐसे बोध को ही, हम शाश्वत् आध्यात्मिक चिन्तन कहते हैं।

**प्रमोद कुमार गुप्ता**

# मिल कीजे सतगुरू आरती

गुरू पूर्णिमा के पावन अवसर पर प्रभु कृपा से पूज्य सदगुरूदेव की आरती पर मनन करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। इसका सम्बन्ध भाव से है। यही भाव हमारी सेवा, साधना, शरणागति में प्रेरक बने। इसी विवक्षा के साथ गुरूदेव को बारम्बार नमन।

प्रस्तुत प्रसंग में तीन बिन्दु मुख्य रूप से विचारणीय हैं। एक आरती क्या है? आरती किसकी करनी चाहिए? तथा तीसरा आरती की विधि क्या है?

सर्वप्रथम आरती शब्द पर विचार करें। आरती शब्द आ+रति दो शब्दों से मिलकर बना है। "आसमन्तात् रति आरती" अर्थात् अतयन्त प्रेम व आदर के साथ गुरू की कृपा करूणा का सुमिरन कर, उनके प्रति कृतज्ञता का गुणगान है आरती। गुरू के अवतरण से जीवन में हुए दिशा परिवर्तन, विकास का ज्ञापन है आरती। स्वच्छता से दिव्यता की यात्रा का संकेत है आरती। गुरू के स्वभाव का चित्रण है आरती।

आरती शब्द का अर्थ विद्वान आर्त भाव से की गई प्रार्थना भी बतलाते हैं। भगवान, गुरू से कष्ट निवारण के लिए की गई प्रार्थना भी आरती कहलाती है। किन्तु जब साधक का समर्पित सेवक या शिष्य रूप में परिवर्तन हो गया, तब वह आर्त नहीं है, दुखी नहीं है। फिर भी वह कृतज्ञता स्वरूप आरती करता है। इस संदर्भ में आरती का प्रथम अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

आरती किसकी करणीय है अथवा आरती का अधिष्ठान कौन है? तो यहाँ कहा गया सदगुरू। एकमन सदगुरू ही हमारे सामने आरती का अधिष्ठान है। अन्य सभी सम्बन्ध लौकिक भौतिक जीवन को सुखमय बनाने तक साथ निभाते हैं। इस नाते वे भी आदरणीय हैं। लेकिन जीवन की अन्तहीन यात्रा में विराम तो सदगुरू ही लगाते हैं। सदगुरू नारद जी ने ही कृपा करके डाकू रत्नाकर को ऐसा मार्ग दिखाया जिससे वह महर्षित्व को प्राप्त हुए। तोतापुरी जी महाराज करूणावशात, पंजाब से बंगाल गए, रामकृष्ण परमहंस जी को ज्ञान प्रदान करने। नरेन्द्र का विवेकानन्द होना गुरू कृपा का ही परिणाम है।

जो निश्छल, निःस्वार्थ, सुहृद, परम सम्बन्ध हैं वो तो गुरू का ही है। इसके उदगार में शिष्य का विनम्र गान है–

"गुरू गोविन्द दोउ खड़े, काके लागू पाय।
बलिहारि गुरू आपनो, जिन गोविन्द दियो लखाय।"

उपनिषद में कहा "आचार्यवान पुरूषो वेद" जो गुरू वाला है उसी को जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है, निगुरे को नहीं। जीवत्व से ब्रहम्त्व की, ससीम से असीम की, क्षणिक आनन्द से चिन्मय आनन्द की यात्रा, गुरू की कृपा प्रसाद से ही सम्भव है। गुरू महिमा में शास्त्र की घोषणा है–

"हरेः रूट्ठो गुरूत्राता। गुरूे रूट्ठो कोऽपि न त्राता।"

गुरू वो परम कारूणिक तत्व है जो भगवान के क्राध से भी हमारी रक्षा कर सकते हैं, किन्तु यदि गुरू ही रूष्ट हो जाये तो हमारी रक्षा कोई नहीं कर सकता। अतः गुरू ही आरती करने योग्य है।

तीसरा बिन्दु है आरती की विधि क्या है? आरती करने वाले का भाव कैसा हो? तो कहा "मिल कीजै" यह बहुत ही गम्भीर और अनिवार्य बिन्दु है। इसमें साधक के व्यक्तिगत स्तर पर विचार करें तो मिल कीजै का अर्थ है, सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ। तुलसी बाबा के शब्दों में कहें तो–"मन क्रम वचन छांड़ि चतुराई।" निश्छल होकर, छल कपट रहित होकर। कपट शब्द "पट" वस्त्र से बना है, जिससे हम कुछ छिपा सकते हैं। गुरू के समक्ष कुछ नहीं छिपाना चाहिए। कपट रहित होने पर हमारे दोष की समाप्ति तथा गुणाधान हो सकता है। मात्र वाणी के स्तर पर ही आरती न रह जावे। इसलिए कहा कि निर्मल मन हो, समर्पित कर्म हो। साधक और भक्त गुरू को तो मानते हैं लेकिन गुरू की नहीं मानते हैं। भक्तजन गान करते हैं–"छल कपट त्याग दीजै। गुरूजी की सेवा कीजै। सदगुरू की शरण लीजै। खेलिए मैदान में।"

"मिल कीजै" का अर्थ यदि सामूहिक संस्था के स्तर पर विचार करें तो प्रतीत होता है कि जिन लक्ष्यों, सिद्वान्तों पर हमारे गुरूदेव चले हैं, उसी मार्ग पर हम भी चलें। नानक जी कहते हैं–"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" जिस उदारता, करूणा, प्रेम से गुरू ने सबको अपनाया, जिस आदर्श शास्त्रीय जीवन को उन्होंने जीकर दिखलाया, वही हमारा प्रेरणा स्रोत है। यदि उस लक्ष्य में थोड़ा भी दोष, मिलावट, स्वार्थ, व्यक्तिगतता आई तो फिर "मिल कीजै" नहीं होगा दिखावा मात्र होगा। तब तो आरती करना एक क्रिया मात्र होगी। गुरूदव के चरण कमलों में विनम्रता नमन के साथ प्रार्थना होकि ऐसा ही भाव हमारे ह्रदय में प्रकट करें और हम परमानन्द के साथ गान करें–

मिल कीजै सदगुरू आरती। मिल कीजै।

**गुरू चरणों में अर्पित**
**ब्र0 राघवेन्द्र चैतन्य**
**चिन्मय मिशन झाँसी।**

# महर्षि वशिष्ठ

महर्षि वशिष्ठ का जन्म ब्रह्मा जी के गोद से हुआ था। ये व्यास देव के प्रपितामह थे। ज्ञान और तप के तो ये साक्षात रूप ही थे। इन्हें ही श्रीराम के शिक्षा गुरू होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ये रघुवंश के कुल पुरोहित तो वंश के प्रारम्भ काल से ही थे। तुलसीदास जी ने "मानस" में इसीलिये लिखा है–"बड़ वशिष्ठ सम को जग माही।"

वशिष्ठ जी लोकोपकार में अग्रणी थे। ये वर्तमान और भविष्य पर सजग दृष्टि रखते थे। इनकी यह दूर दृष्टि पैनी न होती तो आज हम लोगों का जो अस्तित्व है, वह नहीं होता। इस सम्बन्ध की दो घटनायें दृष्टव्य हैं– पदम पुराण से पता चलता है कि एक बार शनि देवता रोहिणी का भेदन कर आगे बढ़ने वाले थे। इस योग को शकट भेद कहते हैं। कहीं यह योग आ जाता तो पृथ्वी पर बारह वर्षों तक घोर दुर्भिक्ष पड़ता, तब जनता का बचना असम्भव हो जाता। उस समय चक्रवर्ती राजा दशरथ का राज्य था। ये प्रजा वत्सल थे। इनके राज्य में प्रजा स्वर्ग का सुख भोग रही थी। यदि बारह वर्षों तक पानी न बरसता तो भीषण अकाल में प्रजा तथा अन्य प्राणी तड़प–तड़प कर मर जाते। महर्षि वशिष्ठ की पैनी दृष्टि से यह विनाश बच गया। उन्होंने राजा दशरथ को सब कुछ बताया और शकट योग रोकने के लिये उन्हें तैयार कर लिया। दशरथ रथ पर सवार होकर नक्षत्र मण्डल में जा पहुँचे। पहले तो उन्होंने शनि देवता को प्रणाम किया और उसके पश्चात् शनि पर संहारास्त्र का संधान किया। शनि देवता दशरथ की कर्तव्यनिष्ठा से प्रसन्न हो गये और बोले–"वत्स। तुम गुरू कृपा से बच गये हो। यहाँ आकर कोई बचता नहीं है। तुम्हारी प्रजावत्सलता से मैं प्रसन्न हूँ। अतः मनचाही वस्तु मुझ से मांग लो।" दूरदर्शी गुरू का शिष्य भी दूरदर्शी होता है। उन्होंने समझ लिया कि यह भयानक योग जब कभी आयेगा, तभी सारी प्रजा को तड़पायेगा। अतः उन्हें केवल वर्तमान प्रजा के लिये ही नहीं, अपितु हम लोगों को भी बचाने के लिये वरदान मांगा–"भगवान, जब तक सूर्य नक्षत्र विद्यमान हों, तब तक आप राहिणी का भेदन न करें"। शनि देव ने महारज की इस विश्व कल्याणी दृष्टि से प्रभावित होकर तथास्तु कह दिया।

महाराज दशरथ ने बड़े प्रेम से शनि देव की स्तुति (पदम पु0 उत्तरखंड 34/27–34) की। इस स्तुति से शनि देवता संतुष्ट हो गये। उन्होंने एक वरदान और मांगने को कहा। महाराज बोले–"भगवन, आप आज से देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, नाग आदि किसी प्राणी को कष्ट न दें।"

कितनी उदार मांग थी। शनि देवता ने कुछ युक्ति लगाकर यह वरदान भी दे दिया। युक्ति यह थी कि यदि मैं किसी प्राणी की कुण्डली अथवा गोचर में मृत्यु स्थान, जन्म स्थान और चतुर्थ स्थान में स्थित रहूँ, तो उसे मृत्यु का कष्ट दे सकता हूँ, किन्तु यदि वह विधि विधान से मेरी प्रतिमा का पूजन कर तुम्हारे द्वारा किये गये स्तोत्र का पाठ करेगा, तो उसे मैं कभी पीड़ा नहीं दूंगा, अपितु उसकी रक्षा करूंगा।

यह अद्भुत रथ जो महाराज दशरथ को वहन कर इतनी शीघ्र शनि की कक्षा में पहुंच गया, महर्षि की ऋतम्भरा प्रज्ञा की ही देन है। महाराज रघु के लिये भी वशिष्ठ जी द्वारा सर्वत्रशाली ऐसा ही रथ निर्मित किया गया था, जो समुद्र, पर्वत, आकाश कहीं भी बेरोक–टोक गमन करता था। संभवतः रघु का यही रथ वंश परम्परा से दशरथ को मिला हो।

एक बार दुर्भिक्ष आ ही गया। इसमें शनि देव का हाथ न था। यह विपत्ति जनता पर उसके संचित कर्म से आयी थी। इसमें दशरथ का पुरूषार्थ भी काम न आया। वशिष्ठ जी ने जनता को तड़पने से बचाने के लिये अपने तप का उपयोग किया। खेत–खलियानों मे अन्न का ढ़ेर लगा दिया। वृक्ष फलों से लद गये। घास लहलहा उठी। बहुतों को पता ही नहीं चला कि यह महर्षि का प्रसाद है। धन्य हैं तपोधन वशिष्ठ तथा उनका लोक–कल्याण के लिये उपयोग में लाया गया तप–बल।

महर्षि वशिष्ठ का ज्ञान–सत्र सदा चला करता था। महर्षि विश्वामित्र के अनुरोध करने पर उन्होंने भगवान श्री राम को जो तत्वोपदेश दिया है, वह 'योगवशिष्ठ' नाम से विख्यात है। वशिष्ठ कुलपति थे, उनके आश्रम में दस हजार शिष्यों को अन्न–पान आदि की सुविधा प्रदान कर शिक्षित किया जाता था। ऐसे ही शिक्षक महर्षि को कुलपति संज्ञा प्रदान की जाती है।

**–पं0 चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी**
**अध्यक्ष, मानस–समाज**

भोग में रोग का भय है, ऊँचे कुल में पतन का भय है, धन में राजा का, मान में दीनता का, बल में शत्रु का तथा रूप में वृद्धावस्था का भय है और शास्त्रों में वाद–विवाद का, गुण में दुष्ट जनों का तथा शरीर में काल का भय है। इस प्रकार संसार में मनुष्यों के लिये सभी वस्तुएँ भयपूर्ण हैं और भय से रहित तो केवल वैराग्य है।

**–वैराग्य शतक–116**

**ऊँ**

गुरू ही है वो, जो ज्ञान का दीप जलाते।
जीवन सफल बनाते।।
गुरू ही हैं वो, जो कर्म पथ दिखलाते।
कर्म से कर्मयोग ले जाते।।
गुरू ही हैं वो, जो राग द्वेष को हटाते।
भावों को भक्ति बनाते।।
गुरू ही हैं वो, जो शास्त्र में प्रवेश करवाते।
जीवन शास्त्र जीकर दिखलाते।।
गुरू ही हैं वो, जो भवसागर मिटाकर।
पावन त्रिवेणी स्नान करवाते।।
गुरू ही हैं वो, चित्त से कलमष को हटाते।
हमसे साधना विवेक करवाते।।
गुरू ही हैं वो, जो स्वरूपावस्थान करवाते।
आत्मा को परमात्मा से मिलवाते।।

**गुरू चरणों में समर्पित**
**ब्र0 राघवेन्द्र चैतन्य**
**चिन्मय मिशन झॉसी।**

## पाठकों से अनुरोध

वेदान्त आश्रम के समस्त भक्तों से अनुरोध है कि धार्मिक विषयों पर लेख या कविता, लिखने वाले नव–रचनाकार अपनी रचनाओं को विश्वम्भरानन्द ज्ञान सरिता पत्रिका में छपने हेतु भेज सकते हैं। उचित रचनाओं को पत्रिका में स्थान अवश्य दिया जायेगा।

रचनाएं सुलेख में लिखी हों या फिर टाइप कराकर 10 जनवरी 2021 तक अवश्य भेज देवें।

**सधन्यवाद** **–सम्पादक**

# पुनर्जन्म

मानव मस्तिष्क में प्रश्न कौंधना स्वभाविक है कि जीवन की सक्रियता तो चेतन से ही होती है फिर मृत्यु उपरान्त इस शरीर की क्या स्थिति होती है? शरीर में स्थित सूक्ष्म एवं स्थूल दो भाग होते हैं। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर तो पंचभूतों में विलीन होकर नष्ट हो जाता है किन्तु सूक्ष्म शरीर में बिना भोगे हुए कर्मों की वासना एवं जीवन में किये गये कर्मों से स्रजित प्रारब्ध फलादेश के रूप में संग्रहित रहता है।

आत्म चेतन अपने सान्निध्य से जीवात्मा को संस्कार एवं चित्तवृत्तियों के साथ प्रकाशित करता है। सूक्ष्म शरीर में संग्रहित अभुक्त कर्मों के फलाफल से ही जीव के कुल एवं परिवार (श्रीमानों या ज्ञानवानों या मूढ़ अथवा निर्धन) का और जीवन में सुख–दुख का निर्धारण प्रारब्धानुसार ही होता है, इसीसे पुनर्जन्म की धारणा की पुष्टि होती है। परिवार में माता–पिता अपनी सभी संतानों के प्रति बराबर स्नेह रखते एवं उनका समान पारिवारिक परिप्रेक्ष्य होने के बावजूद प्रत्येक संतान के स्वभाव एवं उनके जीवन में सुख–दुःख भी भिन्न–भिन्न पाये जाते हैं, जो उनके पूर्व जन्म के कर्मों से उत्पन्न प्रारब्ध के कारण ही भिन्न–भिन्न प्रकट होते हैं।

स्थूल शरीर का सारा ज्ञान, चेतना से होता है एवं अतीन्द्रिय चेतना जो भूत–भविष्य से सम्बद्ध रहती है वह सूक्ष्म शरीर के रूप में होती है। इसी से कभी–कभी कुछ व्यक्तियों में पुनर्जन्म की स्मृतियों का स्फुरण हो जाता है।

चेतना एक स्वतंत्र सत्ता है, जो न उत्पन्न होती है और न ही नष्ट होती है, उसे ही आत्मा कहते हैं। प्रश्न उठता है कि जब पंचतत्वों से निर्मित भौतिक स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, तब चेतन सत्ता आत्मा का क्या होता है? शरीर के मृत हो जाने पर, जीवन के अभुक्त कर्म कहॉ जाते हैं? उन कर्मों का चेतन के साथ तो कभी तादात्म्य हो ही नहीं सकता। आशय कि जब चेतन प्रकृति में होता है, तब वह ईश्वर और जब वह जीव में होता है तब वह आत्मा कही जाती है, जो अनन्त, अविनाशी, निर्विकारी एवं विशुद्ध होती है। अतः यही अभुक्त (बिना भोगे हुए) कर्म पुनर्जन्म होने पर प्रारब्ध के रूप में संग्रहीत होने के कारण हमारे जीवन स्तर, जीवन में सुख–दुःख का निर्धारण करते हैं।

शरीर के मृत हो जाने पर जीवन के शेष अभुक्त कर्म आत्मा के साथ नहीं रहते और न ही वह शरीर के साथ नष्ट होते हैं, क्योंकि अभुक्त कर्म के रहते उनका भोग न होना, कारण के रहते कार्य का न होना होगा जो अखण्ड नियम का विखण्डन हो जायेगा ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। इस तरह उन कर्मों के निष्पादन के लिये पुनर्जन्म का होना प्रमाणित ही कहेंगे। परन्तु एक स्वभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि अभुक्त कर्म जब आत्मा के साथ नहीं रहते और न ही शरीर के साथ वह नष्ट होते हैं, तब फिर वह कर्म कहॉ रहते हैं?

आत्मा चेतन के प्रकाश से ही पांच भौतिक शरीर प्रकाशित होता है, यानी कि शरीर की सक्रियता होती है। शरीर के दो भाग स्थूल एवं सुक्ष्म होते हैं। मनुष्य की मृत्यु होने पर स्थूल शरीर तो नष्ट हो जाता है, किन्तु जो सूक्ष्म शरीर होता है, उसमें उसके बिना भोगे हुए कर्म एवं कर्मों का फलादेश संग्रहीत बना रहता है और उसका जब पुनर्जन्म के रूप में नया जन्म होता है तब यह सूक्ष्म शरीर ही उस जीव में अवस्थित होकर अभुक्त कर्मों के फलाफल अनुसार ही जीव के जीवन की श्रेणी एवं होने वाले सुख–दुःख को निर्धारित करता है। आत्मा, जीवात्मा के रूप में उसे प्रकाशित यानी क्रियाशील करता है एवं जीवन में महतत्त्व, अहम्तत्त्व के द्वारा मोह माया में बंधकर कर्मों को जीव संचालित करता रहता है। कुछ व्यक्तियों को अपने पुनर्जन्म के घटनाचक्रों की स्मृति इस जीवन में भी बनी रहती है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि शरीर के मृत हो जाने के उपरान्त भी स्मृतियों का प्रस्फुटन कैसे होता है एवं वह स्मृतियां कहॉ रहती हैं?

उत्तर है कि स्थूल शरीर का सारा ज्ञान ज्ञात चेतना से होता है एवं एन्द्रिक या अतीन्द्रिय चेतना जो भूत–भविष्य से सम्बद्ध रहती है, वह सूक्ष्म शरीर के रूप में होती है। इसीसे पुनर्जन्म की स्मृतियों का प्रस्फुटन होता है एवं महापुरूषों में अतीन्द्रिय ज्ञान का उदय भी इसी चेतना के प्रभाव से ही होता है।

गूढ़ चिन्तन यह है कि जीवन में जब तक हमारा कर्ताभाव बना रहता है, तब तक हमारे किये हुए कर्म सूक्ष्म शरीर में संग्रहीत होते रहते हैं। परन्तु जब हमारा अज्ञान नष्ट होकर साक्षात्कार की स्थिति आ जाती है और हम जान जाते हैं कि जीवन एवं सृष्टि को प्रकाशित करने वाली शाश्वत् चेतन सत्ता ही है, तब हमारे अन्दर का कर्ता भाव स्वतः नष्ट हो जाता है। यह स्थिति आत्म चेतन के साथ एकाकार की होती है, इसी को जीव की विमुक्ति या मोक्ष की स्थिति कहते हैं।

कर्ताभाव के न रहने पर हमारे नैष्कर्म होने के कारण उनका सूक्ष्म शरीर में संग्रहण ही नहीं होता। ऐसे मनुष्य का जब शरीर नष्ट होता है तो उसके सूक्ष्म शरीर में अभुक्त कर्मों का संग्रहण न होने के कारण फिर वह सूक्ष्म शरीर भी नहीं रह जाता।

परिणति के रूप में जीव के आत्म चेतन का परमात्मा में समावेश या एकाकार हो जाना ही, जीव का पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा दिलाता है, जो मुक्ति है।

**प्रमोद कुमार गुप्ता, झाँसी।**

आपकी भक्ति तो प्रारम्भ से ही परम मधुर–सुखरूपा है। वही यदि आपके गुणानुवाद–श्रवण–रस इस से कुछ और ऊँची भूमिका प्राप्त हुई तब तो सम्पूर्ण परितापों का समूल विनाश कर देती है। फिर अन्त में वह भक्त के हृदय में निर्मल ज्ञानोदय से संयुक्त अद्वितीय ब्रह्मानन्द प्रदान करती है।

# जीवात्मा की यात्रा का अन्तिम पड़ाव

## –परमात्मा–

अपने परम पद के सन्दर्भ में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि जीवात्मा जन्म–मृत्यु के अनेकों पड़ावों से गुजरती हुई जब अपनी आसक्तियों एवं कामनाओं पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त कर लेती है तभी वह मुझ अविनाशी परमात्मा में विलीन हो जाती है एवं यही उसका परम पद को प्राप्त होना कहलाता है। यह वो स्थान है जहां और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता यही आत्मा का अन्तिम पड़ाव है। यही परम प्रभु का परम धाम है।

यदि हमारे ह्नदय में हमारे अन्तर्मन में विवेक का प्रकाश हो जावे तथा वासना और आसक्तियों के बंधन खुल जावे तो हमारा अन्तर्मन ही परमात्मा का परम धाम कहलायेगा। निष्कर्स रूप से आत्म चेतना का प्रकाशित होना ही परम तत्व की प्राप्ति है। भगवान श्री कृष्ण कहते हैं–

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।

अर्थात् इस संसार में प्रत्येक जीवधारी बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है, परन्तु वह प्रकृति में स्थित मन एवं पांचो इन्द्रियों को अपना मान बैठता है और यही भूल उसे दुरूह चक्र में फंसा देती है। भारतीय दर्शन के अनुसार एक अलौकिक चिंतन उभरता है– परमात्मा एसं जीवात्मा की एकरूपता। ममैवांशो जीवलोके अर्थात् सत्य तो ये है कि परमात्मा एवं जीवात्मा तो कभी अलग थे ही नहीं और न ही कभी हो सकते हैं। भगवान ने तो कहा है कि विभिन्न जीवधारियों में विभिन्न रूपों में विचरण करने वाला चैतन्य मेरे ही लोक का वासी है। मैंने कभी उसे दूर किया ही नहीं यह तो वो स्वंय को भुलाकर पृथ्वी तुल्य नश्वर शरीर को अपना घर समझने लगता है एवं मुझ से दूर हो जाता है।

शरीर जो पृथ्वी से जन्मा है वो भला किसी का कब तक साथ देगा। अनेकानेक जन्म लेने के उपरान्त भी हमारा मिलन शरीर से नहीं हो सकता। हम काम आसक्तियों के वसीभूत होकर इन इन्द्रियों को अपना मान बैठते हैं एवं इन्हीं की आपूर्ती के लिये अनेकानेक पाप

कर्मों में आसक्त होते रहते हैं। यथार्थ में ये इन्द्रियां न तो हमारी थी न कभी होगी। हमारा है तो बस 'परमात्मा' जो आत्मा के निकटतम है किन्तु हम उसे महसूस ही नहीं कर पाते।

भगवान कृष्ण कहते हैं कि आत्मा जब परमात्मा में मिल जाती है वही परमपद कहलाता है। यह परमपद स्वप्रकाशित है। इसे प्रकाशित होने के लिये किसी सूर्य या चन्द्रमा की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुतः हमारा अन्तर्मन ही परमात्मा का परम धाम है। यदि हमारे अन्तर्मन में विवेक का प्रकाश हो जावे तथा हमारे मन से कामनाओं एवं आसक्तियों के बन्धन ढ़ीले पड़ जावे तो हमारी अन्तर चेतना स्वंय ही प्रकाशित हो उठेगी एवं उसे किसी भी अन्य प्रकाश की आवश्यकता ही नहीं होगी एवं चेतना के प्रकाशित होते ही हम परम धाम के अधिकारी बन जायेंगे। निष्कर्स रूप में यही कहना उचित होगा कि आत्म चेतना का प्रकाशित होना ही परम तत्व की प्राप्ति है एवं यही जीवात्मा की यात्रा का अन्तिम पड़ाव है, जिसे लोग परम धाम की प्राप्ति कहते हैं।

**—श्रीमती कुमकुम बिसारिया**
**झाँसी।**

सामान्यतः संध्या वंदन का अनुष्ठान गायत्री मंत्र के जप द्वारा प्रातःकाल, मध्यान्ह व सायंकाल किया जाता है। सर्व विदित गायत्री मंत्र इस प्राकर है—

**ऊँ0 भूर्भवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।।**

उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक देवस्वरूप परमात्मा को हम अन्तःकरण में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

आत्मज्ञ पुरूष या आत्मचिंतनशील साधक इस मंत्र का जप करते समय इसमें निहित सूक्ष्म एवं गहन आध्यात्मिक अर्थ का विचार करते हैं। 'सदाचार' नामक ग्रन्थ में आचार्य शंकर इसके आध्यात्मिक अर्थ का निर्देशन करते हुए कहते हैं—

**प्रातः स्मरामि देवस्य सवितुर्भर्ग आत्मनः**
**वरेण्यं तद्धियो यो नश्चिदानन्दे प्रचोदयात्।। 3।।**

अर्थात् मैं आत्मतत्त्व रूपी सूर्य के तेज का प्रातःकाल स्मरण करता हूँ जो हमारी बुद्धि को चिदानन्द में रहने की प्रेरणा दे।

# तृष्णा (असन्तोष)

तृष्णा एक ऐसी वस्तु है, जो इच्छानुसार भोगों के प्राप्त होने पर भी पूरी नहीं होती। उसी के कारण जन्म–मृत्यु के चक्कर में भटकना पड़ता है। तृष्णा ने मुझ से न जाने कितने कर्म करवाये और उनके कारण न जाने कितनी योंनियों में मुझे डाला। कर्मों के कारण अनेकों योंनियों में भटकते–भटकते दैववश ही मनुष्य योनि की प्राप्ति होती है, जो स्वर्ग, मोक्ष, तिर्यग्योनि तथा इस मानव देह की भी प्राप्ति का द्वारा है। इसमें पुण्य करें तो स्वर्ग, पाप करें तो पशु–पक्षी आदि की योनि, निवृत्त हो जायें तो माक्ष और दोंनो प्रकार के कर्म किये जायें तो फिर मनुष्य योनि की प्राप्ति हो सकती है।

संसार के स्त्री पुरूष कर्म तो करते हैं सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये, किन्तु उसका फल उल्टा होता ही है, वे और दुःख में पड़ जाते हैं। सुख ही आत्मा का स्वरूप है। समस्त चेष्टाओं की निवृत्ति ही उसका शरीर है– उसके प्रकाशित होने का स्थान है।

जिन–जिन दोषों और गुणों से मनुष्य का चित्त उपरत हो जाता है, उन्हीं वस्तुओं के बन्धन से वह मुक्त हो जाता है। मनुष्य के लिये यह निवृत्तिरूप धर्म ही परम कल्याण का साधन है, क्योंकि यही शोक, मोह और भय को मिटाने वाला है। विषयों में कहीं भी गुणों का आरोप करने से उस वस्तु के प्रति आसक्ति हो जाती है। आसक्ति होने से उसे अपने पास रखने की कामना हो जाती है और ज्यादा की प्राप्ति की तृष्णा उत्पन्न हो जाती है और इस कामना की पूर्ती में किसी प्रकार की वाधा पड़ने पर लोगों में परस्पर कलह होने लगता है। कलह से असहन क्रोध की उत्पत्ति होती है और क्रोध के समय अपने हित–अहित का बोध नहीं रहता, अज्ञान छा जाता है और इस अज्ञान से शीघ्र ही मनुष्य की सभी कार्य का निर्णय करने वाली व्यापक चेतना शक्ति लुप्त हो जाती है। चेतनाशक्ति अर्थात् स्मृति के लुप्त हो जाने पर मनुष्य में मनुष्यता नहीं रह जाती, पशुता आ जाती है और वह शून्य के समान अस्तित्वहीन हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति के अलग–अलग गुणों का प्रकाश होता है। उनके कारण प्राणियों के स्वभाव में भी भेद हो जाता है। वृत्तियां तीन प्रकार की होती हैं–1. सतोगुण वृत्तियां, 2. रजोगुण वृत्तियां, 3. तमोगुण वृत्तियां।

1. सतोगुण की वृत्तियां हैं– शम्, दम, तितिक्षा, विवेक, तप, सत्य, दया, संतोष, आदि।
2. रजोगुण की वृत्तियां हैं– इच्छा, प्रयत्न, घमण्ड, तृष्णा, ऐंठ, अकड़, आदि।

3. तमोगुण की वृत्तियां हैं– क्रोध, लोभ, पाखण्ड, हिंसा, याचना, विषाद, आदि।

जब मनुष्य धर्म, अर्थ और काम में संलग्न रहता है, तब उसे सतोगुण से श्रद्धा, रजोगुण से रीत और तमोगुण से धन की प्राप्ति होती है। रजोगुण भेद बुद्धि का कारण है। उसका स्वभाव है आसक्ति और प्रवृत्ति। रजोगुण आधिम्य हो तो हम सुख के साधनों की तलाश में विरक्त हो जाते हैं। मनुष्य की शक्ति और सारी चेतना उसकी महत्वाकांक्षओं को पूरा करने में लग जाते हैं। जिस मानव में भौतिक सुविधाओं की प्राप्ति की तृष्णा जिस मात्रा में होगी उसी मात्रा में उसका सारा परिश्रम, ऊर्जा उसकी प्राप्ति में लग जायेगी। जीवन एक दौड़ भाग में बदल जाता है। एक कार्य पूरा नहीं हो पाता कि व्यक्ति दूसरे को पकड़ने की तैयारी करन लगता है।

भगवान कृष्ण कहते हैं कि मार्ग कोई सा भी हो, कारण कोई भी बने–अंततः हारती जीवात्मा ही है, क्योंकि इन तीनों परिस्थितियों में प्रकृति के गुण मनुष्य पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

इसीलिए कहा है कि यह संसार आकांक्षा, तृष्णा, वासना व कुछ होने की चाहत में बसता है। जितनी अधिक आकांक्षायें होंगी, वासनाओं के जाल होंगे, उतना ही अधिक संसार के प्रति आकर्षण का जाल होगा। जितनी किसी वस्तु की आवश्यकता थी, उतनी मिलने पर भी उसकी चाहत समाप्त नहीं होती उसकी तृष्णा उतनी ही बढ़ती जाती है, कभी अन्त नहीं होती है। यह चाहत अन्तहीन होती है। चाहत एक मृगतृष्णा के समान है। तृष्णा मानव मन में उठने वाली एक 'वासना' है। यह वासना मन को उद्वेलित करती रहती है। एक प्रकार का तनाव प्रवेश कर जाता है मन में।

बौद्ध दर्शन में भी बंधन का कारण तृष्णा को माना गया है। अतः अध्यात्म जीवन–दृष्टि और जीवन शैली का समन्वय है। इसका जीवन में अनुसरण कर, मन को संयमित कर एक उच्च श्रेणी का जीवन व्यतीत करना चाहिए। क्योंकि मानवीय मन अपनी जिज्ञासाओं के कारण ही जाना जाता है।

**–श्रीमती रंजना शर्मा, नोएडा।**

**"अनमोल विचार"**

1. खुशी के लिये बहुत कुछ इकट्ठा करना पड़ता है ये हमारी समझ है किन्तु हकीकत में खुशी के लिये बहुत कुछ छोड़ना पड़ता है ये अनुभव कहता है।
2. परमात्मा दोंनो तरह से आजमाता है– लेकर भी – देकर भी।

**पंकज मिश्रा**

# "जातिस्मर"

जन्मान्तरवाद या पुनर्जन्म मनुष्य के लिये चिरकाल से ही कौतुहल का विषय रहा है। जातिस्मर, पुनर्जन्म का समर्थन करता है। जातिस्मर पूर्वजन्म के अनुभवों के स्मृतिकर्ता को ही कहते हैं। जातिस्मर विरक्त एवं दार्शनिक तथा विचारक चिन्तनशील होते हैं। अनवरत् वेद पठन–पाठन, पवित्रता और समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम रखने से भी जातिस्मरता प्राप्त होना कही गई है।

मृत्युकाल में जिसका मन ईश्वर ध्यान में संलग्न रहता है, उसे अगले जन्म में पूर्वजन्म की स्मृति प्राप्त होना सम्भव कहा गया है, जिसके कारण संसार भवाटवी से विमुक्त होकर वैराग्यवान तथा मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।

ज्ञान विचार से भी जातिस्मरता प्राप्त होना कहा गया है। पितरों का शास्त्रोक्त विधि एवं श्रृद्धा से श्राद्ध करने से भी जातिस्मरता प्राप्त होना कहा गया है। जातिस्मर व्यक्तियों में बालकपन से ही गम्भीरता और विचारशीलता पाई जाने का उल्लेख मिलता है। सांसारिकता जातिस्मरता में बाधक है। पर्यटन से भी जातिस्मरता प्राप्त होना बतलाया गया है। जातिस्मर को कभी–कभी कोई न देखे हुए स्थान को देखकर जातिस्मरता प्राप्त हो जाती है। पूर्वजन्म की स्मृमियां, घटनायें एवं स्थान आदि साकार सामने होते हैं। कुछ लोगों का मत है कि मानव से भिन्न योंनियों में भी जातिस्मरता पाई जाती है, जैसे अनेक पुष्पों से सूक्ष्मरस को मधु बना देना मधुमक्खियों के जातिस्मरता के कारण ही सम्भव है। परन्तु यह जातिस्मरता के फलस्वरूप नहीं अपितु यह गुण तो प्रकृति प्रदत्त है।

यही जातिस्मरता वया पक्षी में देखने को मिलती है जो एक–एक तिनके से अपने बच्चों को ऐसा नीड़ निर्माण कर देती है, जिसे देखकर निर्माणविदों को भी आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। यह नीड़ निर्माण कुशलता भी प्रकृति प्रदत्त निपुणता के कारण ही सम्भव हो पाती है। यह भी सम्भव है कि ऐसा पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण होना हो पाता हो।

चार्वाक मतवादियों का कहना है कि जब पुनर्जन्म ही नहीं होता है तो जातिस्मरता का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। उनके मतानुसार–

**"यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।**
**भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।"**

"जब तक जीना है सुखपूर्वक जियो, ऋण लेकर भी घी पीते रहो, देह के भस्म हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता।" परन्तु उक्त मत खण्डित हो जाता है, जब उनकी किसी जातिस्मर से भेंट हो जाती है और यह प्रमाणित हो जाता है कि जातिस्मर द्वारा बतायी गयी सभी जानकारियां, सूचनायें सत्य हैं।

आत्यन्तिक लोकवादी अर्थात् भोगवादी चार्वाकों को भारत में अधिसंख्य स्वीकृति नहीं मिली। अतः जातिस्मर का यह परम कल्याणकारी कर्तव्य है कि वह सद्वृत्तियों का अर्जन करे और असद्वृत्तियों का पराभव कर दे ताकि उन्मार्ग पर जाने से सद्वृत्तियां बचाती रहें।

अन्त में यह कहना भी समीचीन ही होगा कि जातिस्मर को पूर्वजन्मों के अनुभवों से उद्भूत जातिस्मरता सांसारिक न हो वरन् जगत नियन्ता के प्रेम में सुदृढ़ता से सदैव–सदैव के लिये आबद्ध कर दें जो "योगिभिर्ध्यान गम्यम्" जो योगियों के लिये भी अगम ही बने रहते हैं। योगियों के ध्यान में भी नहीं आ पाते। परन्तु यह जभी सम्भव है जब वर्तमान जन्म में ही उसी की ओर दृढ़ता से उन्मुख बने रहें।

**–पुरूषोत्तम नारायण गुप्ता**
**न्यू रायगंज, सीपरी बाजार, झाँसी।**

**प्रशनोत्तर रत्नयालिका से**
**भगवान शंकराचार्यजी का लोक व्यवहार बोध**

प्र0– किं गुरूताया मूलम् ? श्रेष्ठता का मूल क्या है ?
उ0– यदेतद प्रार्थनं नाम। किसी से याचना न करना।
प्र0– किं लघुताया मूलम् ? तुच्छता का मूल क्या है ?
उ0– प्राकृत पुरूषेषु या याञचा। नीच जनों से याचना करना।
प्र0– किं सौरव्यम् ? सुख क्या है ?
उ0– सर्वसंगविरतिर्या। सभी आसक्तियों से मुक्ति।
प्र0– आमरणात् किं शल्यम् ? मृत्यु तक चुभने वाला कांटा क्या है ?
उ0– प्रच्छन्नं यत् कृतं पापम्। छिप कर किया गया पाप।
प्र0– को बधिरः ? बहरा कौन है ?
उ0– यो हिनानि न श्रृणोति। जो हितकर सलाह नहीं सुन पाता।
प्र0– को मूकः ? गूंगा कौन है ?
उ0– यः काले प्रियाणि वकुं न जानाति। जो समय पर उचित बात न बोले।
प्र0– कोऽन्धः ? अन्धा कौन है ?
उ0– यो अकार्यरतः। जो बुरे कार्यों में लगा है।
प्र0– को न प्रत्येतव्यः ? अविश्वसनीय कौन है ?
उ0– बूते यश्चानृतं शश्वत्। जो हमेशा झूठ बोलता है।
प्र0– ग्रहमेधिनश्च मित्रं किम् ? ग्रहस्थ का सबसे बड़ा मित्र ?
उ0– भार्या। ग्रहस्थ का सबसे बड़ा मित्र पत्नी है।
प्र0– किं भाग्यं देहवताय् ? मनुष्य का सौभाग्य क्या है ?
उ0– आरोग्यम्। स्वस्थ रहना।
प्र0– कश्च कुलक्षयहेतुः ? कुल का नाशक क्या है ?
उ0– सन्तापः सज्जनेषु योऽकारि। भले लोगों को सताना कुल नाशक है।
प्र0– को हि भगवत्प्रियः स्यात् ? ईश्वर को प्रिय कौन होता है ?
उ0– योऽन्यं नोद्वेजयेदनुद्विग्नः। जो शान्त है एवं दूसरों को अशान्त नहीं करता।

# मन पॉचहु के वस परा
## —मन के वस नहीं पॉच।

मनुष्य एक जिज्ञासु प्राणी है। पृथ्वी लोक में निहित आचार, विचार, आहार, निद्रा, कार्य एवं भाव में क्या अनुकरणीय हैं एवं क्या वर्जित हैं इसी खोज में उसका मन भटकता रहता है। मानवोचित उत्कष्ठा के अधीन होकर वह निर्धारित नहीं कर पाता कि क्या अनुकरणीय है एवं क्या वर्जित है। उसका मन भटकता रहता है कि जो वस्तुएं या विचार उसके जीवन में निषेध हैं वे क्यों निषेध हैं एवं इन्हीं वस्तुओं को प्राप्त करने या इनके विषय में जिज्ञासा रखने के लिये व्याकुल रहता है। वह उन्हीं चीजों को प्राप्त करने की इच्छा रखता है, जिनका निषेध किया गया है एवं वही कार्य करने की इच्छा रखता है जो हितकारी नहीं हैं।

संत कवियों ने इस विषय में बहुत कुछ कहा है दृष्टान्ततः एक विषैला पौधा होता है जिसे खा कर मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है लेकिन केवल देखने मात्र से वह पौधा हमारा कुछ भी बिगाड़ सकता। इसी प्रकार भावनाओं को समझना चाहिए। पापकारी भावनाओं जो हमें अद्योगति में ले जायेगी। ऐसी भावनायें ह्रदय में आती तो हैं लेकिन यदि हम उनकी तरफ आकृष्ट न होकर अपने कर्तव्यों में लगे रहें तो वे हमारा लेश मात्र भी अहित नहीं कर पायेंगी। ऐसी पथभ्रष्ट भावनाओं के आगमन पर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह उन गलत विचारों से विचलित न हो तथा कभी भी इन विचारों के अधीन न हो। हमारी आत्म शक्ति को चाहिए कि इन अधम विचारों को अपने मन पर आधिपत्य न जमाने दें। इन पर काबू रखें एवं अपनी इन्द्रियों को वश में रख कर मन पर काबू पायें, क्योंकि जब मन पॉचों इन्द्रियों की बात सुनने लगता है तभी सब कुछ उल्टा सीधा होने लगता है। अतः सतर्क रहें एवं मन के वश में इन्द्रियों को रखें न कि इन्द्रियों के वश में मन को— यही वेदों की एवं सन्तों की शिक्षा भी है।

**—श्रीमती कुमकुम बिसारिया**
**झाँसी।**

## ज्ञान की खेती

एक बार भगवान बुद्ध वाराणसी में एक किसान के घर भिक्षा मांगने गये। साथ में कुछ शिष्य भी थे। किसान ने उन्हें ऊपर से नीचे तक देखा और कहा— मैं तो किसान हूँ। कठोर श्रम करके अपना पेट पालता हूँ। आप क्यों बिना श्रम किये आहार प्राप्त करना चाहते हैं।

बुद्ध ने शान्त भाव से उत्तर दिया—'भैया, मैं भी किसान हूँ खेती करता हूँ।

किसाना बोला — कैसे ? भगवान बुद्ध ने किसान की शंका का समाधान करते हुए कहा — मैं ज्ञान की खेती करता हूँ। आत्मा मेरा खेत है। मैं ज्ञान के हल से जुताई कर के श्रद्धा के बीज बोता हूँ। तपस्या एवं साधना के जल से उसे सींचता हूँ। सत्य एवं अहिंसा के सतत् प्रयास से निराई करता हूँ। यदि तुम अपनी खेती का कुछ भाग मुझे दोगे तो मैं भी अपनी खेती का कुछ भाग तुम्हें दूँगा।'

किसान को भगवान बुद्ध की बात पसन्द आ गई, वह उनके चरणों में नतमस्तक हो गया।

# "गुरू बिनु भवनिधि तरइ न कोई"
# (बिना गुरू के संसार सागर से उद्धार नहीं हो सकता है)

जब जीव पर प्रभु की असीम कृपा होती है, तब जीव को सद्गुरू के रूप में सच्चे संत मिलते हैं। एक तो मनुष्य जन्म ही बहुत दुर्लभ है और इस दुर्लभ जन्म में बिना सद्गुरू की कृपा से विवेक की प्राप्ती नहीं होती है। विवेक का अर्थ होता है कि उचित–अनुचित का धर्म–अधर्म का सही निर्णय करने की क्षमता का होना। जैसा कि हंस दूध में मिश्रित जल के होने पर भी दूध–दध को ग्रहण कर लेता है और जल को छोड़ देता है। श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में कहा है कि "भरत हंस रवि वंश तड़ागा। जनम कीन्ह गुन दोष विभागा।।" प्रश्न यह होता है कि भरत के अन्दर हंस जैसी यह प्रवृति कैसे जाग्रत हुई। इसका कारण यह है कि उनके ऊपर सद्गुरू वशिष्ठ जी की विशेष कृपा थी, जिसकी भगवान श्री राम ने स्वंय अपने मुख से प्रसंशा करते हुए यह कहा है कि–

**"गुर अनुराग भरत पर देखी। राम ह्रदयं आनंद विशेषी।**
**जे गुर पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुॅ बेदहुॅ बड़भागी।"**

कहने का भाव यह है कि जब गुरू का विशेष प्रेम और अनुराग तथा विश्वास अखण्ड होता है तो फिर जीव संसार के बंधन और विकारों से मुक्त होकर भगवान की शरण में जाकर भगवत् मुक्ति और सेवा में लीन हो जाता है। इसीलिए भगवान राम ने अपने अयोध्या वासियों को समझाते हुए यह कहा है कि–

**"बड़े भाग्य मानुषतन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रथन्हि गावा।।**
**साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाई न जेहि परलोक संवारा।।"**

भगवान राम ने यहॉ तक कहा है कि यह मनुष्य का शरीर संसार सागर से पार होने के लिये नौका के समान है और भगवान की कृपा अनुकूल वायु के समान है। किन्तु इसमें सद्गुरू का महत्व बताते हुए वे कहते हैं कि–

**"नर तनुभव वारिधि कहुॅ बेरो। सनमुख मरूत अनुग्रह मेरो।।**
**करनधार सद्गुरू दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि भावा।।"**

कहने का भाव यह है कि जीव मैं और मेरेपन का भाव को भूल कर भगवान ही सब कुछ करा रहा है और वह तो निमित्त मात्र ही है, तभी तो गीता में भगवान श्री कृष्ण जी कहते हैं कि –

**"ईश्वरः सर्वभूतानां ह्रदेशेऽर्जन तिष्ठति।**
**भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारू ढानि मायया।"**

हे अर्जुन ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के ह्रदय में रहता है और अपनी माया से शरीर रूपी यन्त्र पर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को उनके स्वभाव के अनुसार भ्रमण कराता रहता है।

**व्याख्याः—** जो ईश्वर सबका शासक, नियामक, पालक और संचालक है, वह अपनी शक्ति से उन प्राणियों को घुमाता है, जिन्हेंने शरीर को मैं और मेरा मान रखा है। जैसे कोई रेलगाड़ी पर चढ़ जाता है, तो उसे परवशता रेलगाड़ी के अनुसार ही जाना पड़ता है, ऐसे ही मनुष्य जब तक शरीर रूपी यन्त्र के साथ मैं और मेरेपन का सम्बन्ध मानता है तब तक ईश्वर उसे उसके स्वभाव के अनुसार जन्म—मरण रूप संसार चक्र में घुमाता रहता है। शरीर के साथ मैं और मेरेपन का सम्बन्ध न रहने पर ईश्वर की माया उसे संचालित नहीं करती है।

सुग्रीव और विभीषण को भी सद्‌गुरू के रूप में वीर बजरंगवली हनुमान जी की प्राप्ती हो गई यह भगवान राम की उन पर परम असीम कृपा थी। बाली ने सुग्रीव का सब कुछ छीन लिया था और भय से भयभीत बना दिया, किन्तु सद्‌गुरू रूपी श्री हनुमान जी ने उसे सब कुछ फिर से वापिस दिलवा दिया और बाली का वध करा कर सुग्रीव को भय मुक्त करा दिया, इतना ही नहीं राज्य के सारे विषय—भोग और काम के सुख में आश्वत मोह की निंद्रा में सोते हुए सुग्रीव को जगाकर राम के काज और सेवा में लगा दिया। तत्पश्चात् उसे राक्षकराज्यवंश का कुलभूषण बना दिया। यह सब सद्‌गुरू की परम कृपा का ही परिणाम हुआ, तभी तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने हनुमान चालीसा में हनुमान को सद्‌गुरू मानते हुए कहा है कि—

**"जय जय जय हनुमान गोसाई। कृपा करहुँ गुरूदेव की नाई।।"**

कहने का भाव यह है कि जब जीव को सद्‌गुरू की प्राप्ती हो जाती है तो संसार में डुबाने वाले कारण मोह, ममता, आशक्ति, अहंकार, लाभ, आदि विकारों को दूर करके, उसके मन को निर्मल बनाकर भगवान के प्रेम और भक्ति से भर करके उसी प्रकार से संसार रूपी सागर को डूबने से बचाकर तैर करके भवसागर पार कर लेता है, जैसे कि कार के ट्यूव में हवा भर करके उसके सहारे से जलाशय को तैर कर पार कर लेता है। कहने का भाव यह है कि मनुष्य के ह्रदय में भगवत प्रेम रूपी भाव को भर कर संसार रूपी सागर से पार करने का काम सद्‌गुरू ही कर देता है। अतः हम कह सकते हैं कि सद्‌गुरू के ज्ञान रूपी यानी संसार के विषय—वासना रूपी कूड़े करकट को जलाकर भगवान के चरणों में लगा देती है।

**"मन ते सकल वासना भागी।**

**केवल राम चरण लय लागी"**

अतः हम कह सकते हैं कि "गुरू बिनभव निधि तरई न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई।।"

**—पं0 वेद प्रकाश त्रिवेदी**
**हिन्दी प्रवक्ता।**

## ।। सतसंगति दुर्लभ संसारा ।।
## (संत का संग मिलना सांसार में दुर्लभ है)

जिस प्रकार से मनुष्य का शरीर मिलना दुर्लभ माना जाता है, तभी तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में कहा है कि—"बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।।" मनुष्य जीवन को पाकर मायाजनित विकारों में यह जीव स्वभाव से ही फंस जाता है, जैसे ही जन्म लेता है, वैसे ही माया उसको मैं—मेरा और तू—तेरा के चक्कर में फंस कर अन्त में मृत्यु की गोद में चला जाता है। जैसे कि वर्षा ऋतु में शुद्ध जल भी धरती की मिट्टी में मिलकर मैला हो जाता है, उसी प्रकार से ईश्वर का अंश यह जीव माया में फंस कर संसार के बन्धन में जन्म—मृत्यु के चक्र में फंस जाता है। तभी तो संत गोस्वामी जी ने मानस में कहा है कि—भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी। यह माया रचित संसारी जीव पर जब भगवान की असीम कृपा हो जाती है, तब सद्गुरू के रूप में कोई न कोई संत उसे मिल ही जाता है और वह अपने ज्ञान के प्रभाव से मोह रूपी निद्रा में और स्वप्न के संसार में सुख—दुःख के झूले में झूलते हुए जीवन को मोह की निद्रा से जगाकर उसके विवेक के नेत्र को खोल देते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उसके संसार जनित दुःख दूर हो जाते हैं। तभी तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

**"दलन मोह तमसो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू।**
**उधरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहि दोष दुःखभव रजनी के।"**

भाव यह है कि संत की कृपा से सत्संग में उत्पन्न भगवत कथा के माध्यम से भगवान के प्रति जो प्रेम भाव उत्पन्न हो जाता है वही परम प्रेम जीव को भगवान के चरणों की ओर आगे बड़ाता है।

सत्संग से संत के संग के कारण भील कुल में उत्पन्न हुई शबरी भी अपने गुरू के वचनों पर अखण्ड विश्वास और प्रेम के प्रभाव से भक्तों की श्रेणी में आ गई और यह भगवान की भक्ती जीवन के सभी सत् कर्मों के फल से प्राप्त होती है। तभी तो रामचरितमानस में कहा है कि—

सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई।।
अस बिचारि जोई कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा।।

इसीलिए जब पक्षियों के राजा गरूड़ जी ने कागभुसुण्ड जी से यह पूंछा कि सबसे बड़ा दुःख क्या है और सुख क्या है? तो उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि–

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभगु खगराया।।
संत सहहिं दुःखपरहि तरत्यागी। पर दुःख हेतु असंत अभागी।।

इसी भाव को तुलसीदास जी ने अपनी दोहावली में कहा है कि "तुलसी मलो सुसंग तें, पांच कुसंगति सोई। नाउ किंनरी तरिअसि, लोह बिलोकहु लोई।।" भावार्थ– तुलसीदास जी कहते हैं कि अच्छी संगति से मनुष्य अच्छा और बुरी संगति से वही बुरा हो जाता है। हे लोगों, देखो लोहा नाव में लगने से सबको पार उतारने वाला और सितार में लगने से मधुर संगीत सुना कर सुख देने वाला बन जाता है। वही तलवार और तीर में लगने से जीवों का प्राणघातक हो जाता है।

संत के संग में भगवत् कथा का पान करने को मिलता है, जिससे कि मोह रूपी दरिद्रता भाग जाती है और मोह के जाते ही जीव का भगवान के चरणों में स्वभाविक परम प्रेम हो जाता है। तभी तो कहा है कि

बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु राम पद, होयन दृढ़ अनुराग।।

कहने का भाव यह है कि संत के संग में भगवत् कथा और उनके प्रेम के रंग–रस में जब मन डूब जाता है तो स्वभाविक ही है कि मनुष्य की दिनचर्या और स्वभाव दोंनो में ही परिवर्तन हो जाता है तथा मन में वसे हुए सभी विकार और मलिनता दूर हो जाती है और निर्मल मन हो जाता है।

सद्गुरू के मिलने से फिर उसका स्वभाव और वाणी व्यवहार सभी में मधुरता आ जाती है और नीर–क्षीर के विवेक के समान अच्छे–बुरे की पहचान होकर वह अच्छाई को ग्रहण करता है और बुराइओं को छोड़कर अपने आप को बचा लेता है तभी तो कहा है कि–

मज्जन फल पेखिअ ततकाला। काक होंहि पिक बकउ मराला।।
सुनि आचरज करै जनि कोई। सतसंगति महिमा नहिं गोई।।

अतः ठीक ही कहा है कि–सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड मारि एकउ बारा।।

**–ठा0 लाखन सिंह तोमर**
**प्रेमगंज सीपरी बाजार, झाँसी।**